

Chapter चार

श्री नारद का प्राकट्य

व्यास उवाच

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम् ।

वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

व्यासः उवाच—व्यासदेव ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; संस्तूय—बधाई देकर; मुनीनाम्—बड़े-बड़े साधुओं में; दीर्घ—दीर्घकालीन; सत्रिणाम्—यज्ञ सम्पन्न करने में लगे रहने वाले; वृद्धः—वयोवृद्ध; कुल-पतिः—सभा के अध्यक्ष; सूतम्—सूत गोस्वामी को; बहु-ऋचः—विद्वान्; शौनकः—शौनक ने; अब्रवीत्—सम्बोधित किया।

सूत गोस्वामी को इस प्रकार बोलते देखकर, दीर्घकालीन यज्ञोत्सव में लगे हुए समस्त ऋषियों में विद्वान तथा वयोवृद्ध अग्रणी शौनक मुनि ने सूत गोस्वामी को निम्न प्रकार सम्बोधित करते हुए बधाई दी।

तात्पर्य : विद्वानों की सभा में, जब भी वक्ता को बधाइयाँ दी जाती है या उनको सम्बोधित किया जाता है, तो बधाई देने वाले में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए। उसे सभा का अग्रणी (सभापति) तथा ज्येष्ठ व्यक्ति होना चाहिए। उसे विशद विद्वान भी होना चाहिए। श्री शौनक ऋषि में ये सारी योग्यताएँ थीं, अतः जब श्री सूत गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* को उसी रूप में सुनाने की इच्छा व्यक्त की, जिस रूप में उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से सुना था तथा स्वयं भी उसे आत्मसात् किया था, तो श्री शौनक जी उन्हें बधाई देने के लिए खड़े हुए। आत्म-अनुभूति का यह अर्थ नहीं होता है कि गर्व के कारण, पूर्ववर्ती आचार्य का उल्लंघन करके, कोई अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करे। उसे पूर्ववर्ती आचार्य पर पूरा विश्वास होना चाहिए और साथ ही साथ उसे विषय का ऐसा उत्तम ज्ञान होना चाहिए कि वह किसी विशिष्ट अवसर पर, उस विषय को उपयुक्त ढंग से प्रस्तुत कर सके। *विषय के मूल उद्देश्य का पालन होना चाहिए।* खींचतान कर उसका कोई दुर्बोध अर्थ नहीं निकालना चाहिए, अपितु श्रोताओं को समझाने के लिए उसे रोचक ढंग से प्रस्तुत करना

चाहिए। इसे आत्मसात करना कहा जाता है। सभा के अगुआ शौनक ने वक्ता श्री सूत गोस्वामी के महत्त्व का *यथाधीतम्* तथा *यथामति* कहकर अनुमान लगा लिया था, अतएव परम प्रसन्न होकर वे उन्हें बधाई दे रहे थे। ऐसे व्यक्ति से कभी नहीं सुनना चाहिए जो मूल आचार्य का प्रतिनिधित्व न करता हो। अतएव इस सभा में वक्ता तथा श्रोता दोनों ही प्रामाणिक थे, जिसमें *श्रीमद्भागवत* को दूसरी बार सुनाया जा रहा था। *भागवत* के ऐसे मानक वाचन से वास्तविक उद्देश्य को बिना किसी कठिनाई के स्थिर रखा जा सकता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न किये बिना, बाह्य प्रयोजनों के लिए, *भागवत* का वाचन वक्ता तथा श्रोता दोनों के लिए व्यर्थ का श्रम है।

शौनक उवाच

सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर ।

कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ने कहा; सूत सूत—हे सूत गोस्वामी; महा-भाग—परम भाग्यशाली; वद—कृपया कहें; नः—हमसे; वदताम्—बोलने वालों में से; वर—आदरणीय; कथाम्—कथा के सन्देश को; भागवतीम्—भागवत की; पुण्याम्—पवित्र; यत्—जो; आह—कहा; भगवान्—परम शक्तिमान; शुकः—श्री शुकदेव गोस्वामी ने।

शौनक ने कहा : हे सूत गोस्वामी, जो बोल सकते हैं तथा सुना सकते हैं, उन सबों में आप सर्वाधिक भाग्यशाली तथा सम्माननीय हैं। कृपा करके श्रीमद्भागवत की पुण्य कथा कहें, जिसे महान् तथा शक्तिसम्पन्न ऋषि शुकदेव गोस्वामी ने सुनाई थी।

तात्पर्य : शौनक गोस्वामी प्रसन्नता के कारण सूत गोस्वामी को दो बार 'सूत सूत' कह कर सम्बोधित करते हैं, क्योंकि वे स्वयं तथा सभा के सारे लोग शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहे गये *श्रीमद्भागवत* के पाठ को सुनने के लिए उत्सुक थे। वे किसी ऐसे नकली व्यक्ति से नहीं सुनना चाहते थे, जो निजी स्वार्थ के लिए अपने ही ढंग से व्याख्या करे। सामान्य रूप से *भागवत* के तथाकथित कथावाचक या तो पेशेवर वाचक होते हैं या तथाकथित विद्वान् निर्विशेषवादी होते हैं, जो परम पुरुष की सविशेष दिव्य लीलाओं में प्रवेश नहीं पा सकते। ऐसे निर्विशेषवादी, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, निर्विशेषवादी मत का समर्थन करने वाला कोई न कोई अर्थ निकालते हैं

एवं पेशेवर वाचक तो सीधे दशम स्कंध में पहुँच कर भगवान् की लीलाओं के गुह्यतम अंश की गलत व्याख्या करने लगते हैं। इन दोनों में से कोई भी वाचक *भागवत* सुनाने का अधिकारी नहीं होता। केवल ऐसा व्यक्ति जो शुकदेव गोस्वामी की तरह *भागवत* प्रस्तुत करने को तैयार हो तथा केवल वे लोग जो शुकदेव गोस्वामी तथा उनके प्रतिनिधि से सुनने को तैयार हों, *श्रीमद्भागवत* की दिव्य चर्चा के प्रामाणिक भागीदार हैं।

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ।

कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कस्मिन्—किस; युगे—युग में; प्रवृत्ता—प्रारम्भ हुआ; इयम्—इस; स्थाने—स्थान पर; वा—अथवा; केन—किस; हेतुना—कारण से; कुतः—कहाँ से; सञ्चोदितः—प्रेरणा पाई; कृष्णः—द्वैपायन व्यास ने; कृतवान्—संकलित किया; संहिताम्—वैदिक साहित्य को; मुनिः—विद्वान्।

यह (कथा) सर्वप्रथम किस युग में तथा किस स्थान में प्रारम्भ हुई और किस कारण इसे प्रारम्भ किया गया? महामुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने इस साहित्य (ग्रंथ) को संकलित करने की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त की?

तात्पर्य : चूँकि *श्रीमद्भागवत* श्रील व्यासदेव की विशिष्ट कृति है, अतएव विद्वान् शौनक मुनि अनेक प्रकार के प्रश्न कर रहे हैं। उन्हें ज्ञात था कि श्रील व्यासदेव अल्पज्ञ स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज परिवारों के पतित जनों को समझाने के लिए वेदों से लेकर *महाभारत* तक की पहले ही व्याख्या कर चुके हैं। *श्रीमद्भागवत* उन सबों से दिव्य है, क्योंकि इसमें कुछ भी संसारी नहीं है। अतएव पूछे गये प्रश्न अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण एवं प्रासंगिक हैं।

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः ।

एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; महा-योगी—परम भक्त; सम-दृक्—समदर्शी; निर्विकल्पकः—नितान्त ब्रह्मवादी; एकान्त-मतिः—मन की निष्ठा, ब्रह्मवाद में स्थिर; उन्निद्रः—अज्ञान से परे; गूढः—प्रच्छन्न; मूढः—जड़; इव—सदृश; इयेते—प्रतीत होता है।

उनका (व्यासदेव का) पुत्र परम भक्त, समदर्शी ब्रह्मवादी था जिसका मन सदैव ब्रह्मवाद में केन्द्रित रहता था। वह संसारी कर्मों से परे था, लेकिन प्रकट न होने के कारण अज्ञानी-जैसा लगता था।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी मुक्त जीव थे, अतएव वे सदैव जागरूक बने रहे कि वे माया पाश में न फँस जाँय। *भगवद्गीता* में इस जागरूकता की रोचक व्याख्या की गई है। मुक्त जीव तथा बद्धजीव के पृथक्-पृथक् कार्य हैं। मुक्त जीव निरन्तर आध्यात्मिक उपलब्धि के पथ पर अग्रसर होता रहता है, जो बद्धजीव के लिए एक स्वप्न-जैसा है। बद्धजीव मुक्त जीव के वास्तविक कार्यों की कल्पना तक नहीं कर सकता। जबकि बद्धजीव इन आध्यात्मिक कार्यों का स्वप्न देखता है, किन्तु मुक्त जीव जागृत रहता है। इसी प्रकार बद्धजीव के कार्य मुक्त जीव को स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं। भले ही ऊपरी तौर पर बद्धजीव तथा मुक्त जीव एक ही घरातल पर लगे, लेकिन वास्तव में वे भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे होते हैं और उनका ध्यान सदैव या तो इन्द्रिय-भोग पर या फिर आत्म-साक्षात्कार की ओर लगा रहता है। बद्धजीव पदार्थ में मग्न रहता है, जबकि मुक्त जीव पदार्थ से पूर्ण रूप से निरपेक्ष रहता है। इस निरपेक्षता की व्याख्या आगे की गई है।

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; अनुयान्तम्—पीछा करते हुए; ऋषिम्—ऋषि; आत्मजम्—अपने पुत्र को; अपि—यद्यपि; अनग्नम्—नग्न नहीं; देव्यः—सुन्दरियों ने; ह्रिया—लज्जा से; परिदधुः—शरीर ढक लिया; न—नहीं; सुतस्य—पुत्र का; चित्रम्—आश्चर्यजनक; तत् वीक्ष्य—यह देखकर; पृच्छति—पूछता है; मुनौ—मुनि (व्यास) को; जगदुः—उत्तर दिया; तव—तुम्हारा; अस्ति—है; स्त्री-पुम्—नर तथा नारी; भिदा—अन्तर; न—नहीं; तु—लेकिन; सुतस्य—पुत्र का; विविक्त-शुद्ध, पवित्र; दृष्टेः—देखने वाले का।

जब श्रील व्यासदेव अपने पुत्र के पीछे-पीछे जा रहे थे, तो नग्न स्नान करती सुन्दर तरुणियों ने वस्त्रों से अपने शरीर ढक लिए, यद्यपि व्यासदेव स्वयं नग्न न थे। लेकिन जब उनका पुत्र वहीं से गुजरा था, तब उन्होंने वैसा नहीं किया था। मुनि ने इसके बारे में पूछा तो

तरुणियों ने उत्तर दिया कि उनका पुत्र पवित्र है और जब वह उनकी ओर देख रहा था, तो उसने स्त्री तथा पुरुष में कोई भेद नहीं माना। लेकिन मुनि तो भेद मान रहे थे।

तात्पर्य : भगवद्गीता (५.१८) में कहा गया है कि विद्वान साधु, अपनी आध्यात्मिक दृष्टि के कारण, किसी विद्वान भद्र ब्राह्मण, चण्डाल, कुत्ता या गाय पर समान दृष्टि रखने वाला होता है। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने वह अवस्था प्राप्त कर ली थी। अतएव उन्होंने स्त्री या पुरुष में भेद नहीं देखा, उन्होंने तो समस्त जीवों को एक भिन्न वेश में देखा। स्नान करती स्त्रियाँ, पुरुष के मन को उसकी चेष्टाओं से जान गई, जिस प्रकार शिशु को देखकर कोई भी यह जान लेता है कि वह कितना निर्दोष है। शुकदेव गोस्वामी सोलह वर्ष के तरुण थे, अतएव उनके शरीर के सभी अंगों का विकास हो चुका था। वे नग्न भी थे और उन्हीं की तरह स्त्रियाँ भी थीं। लेकिन चूँकि शुकदेव गोस्वामी काम-व्यापार से परे थे, अतएव वे निर्दोष प्रतीत हो रहे थे। स्त्रियाँ अपने विशिष्ट गुणों से इसे तुरन्त जान गई, अतएव उन्होंने शुकदेव जी के आने की खास परवाह नहीं की। लेकिन जब उनके पिता उधर से गुजरे, तो स्त्रियों ने तुरन्त वस्त्र ओढ़ लिए। ये स्त्रियाँ उनकी पुत्रियों या पौत्रियों जैसी ही थीं; फिर भी व्यासदेव के आने पर उनमें सामाजिक रिवाज के अनुसार प्रतिक्रिया हुई, क्योंकि व्यासदेव गृहस्थ की भूमिका निभा रहे थे। गृहस्थ को स्त्री तथा पुरुष में भेद बरतना होता है; अन्यथा वह गृहस्थ नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य को चाहिए कि स्त्री तथा पुरुष के प्रति आसक्ति से रहित होकर शरीर और आत्मा का अन्तर जाने। जब तक उसके मन में ऐसा अन्तर रहे, तब तक उसे शुकदेव गोस्वामी जैसा संन्यासी बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। कम से कम सैद्धान्तिक रूप से मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि जीव न तो नर है न नारी। बाहरी बाने को प्रकृति ने पदार्थ से इसलिए तैयार किया है कि उसमें विपरीत लिंग के लिए आकर्षण उत्पन्न हो, जिससे वह इस भौतिक जगत में फँसा रहे। मुक्त जीव इस विकृत भेद से ऊपर होता है। वह दो जीवों में अन्तर नहीं मानता। उसके लिए सभी एक ही आत्मा हैं। इस आध्यात्मिक दृष्टि की पूर्णता मुक्त अवस्था में है और श्रील शुकदेव गोस्वामी ने वह अवस्था प्राप्त कर ली थी। श्रील

व्यासदेव भी दिव्य अवस्था में थे, किन्तु गृहस्थ होने के कारण प्रथावश, वे अपने को मुक्त जीव नहीं मानते थे।

कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान् ।

उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; आलक्षितः—मान्य; पौरैः—नागरिकों द्वारा; सम्प्राप्तः—पहुँचे हुए; कुरु-जाङ्गलान्—कुरु-जांगल प्रदेश में; उन्मत्त—पागल; मूक—गूँगा; जडवत्—मूढ़ के समान; विचरन्—घूमते हुए; गज-साह्वये—हस्तिनापुर में।

कुरु तथा जांगल प्रदेशों में पागल, गूँगे तथा मूढ़ की भाँति घूमने के बाद, जब वे (व्यासपुत्र श्रील शुकदेव) हस्तिनापुर (अब दिल्ली) नगर में प्रविष्ट हुए, तो वहाँ के नागरिकों ने उन्हें कैसे पहचाना?

तात्पर्य : आधुनिक दिल्ली नगर पहले हस्तिनापुर कहलाता था, क्योंकि इसकी स्थापना पहले पहल राजा हस्ती ने की थी। अपना पितृगृह त्यागने के बाद, गोस्वामी शुकदेव पागल की भाँति इधर-उधर भटक रहे थे, अतएव उनकी उच्चस्थ अवस्था को जान पाना नागरिकों के लिए अत्यन्त कठिन था। अतः मुनि को देखकर नहीं, अपितु सुनकर पहचाना जाता है। मनुष्य को चाहिए कि साधु या मुनि के पास दर्शन के लिए नहीं, अपितु सुनने के लिए जाए। यदि वह साधु के वचनों को सुनने के लिए तैयार न हो, तो जाने से कोई लाभ नहीं है। शुकदेव गोस्वामी साधु थे और वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के विषय में प्रवचन कर सकते थे। उन्होंने साधारण नागरिकों की सनकों को सन्तुष्ट नहीं किया। जब उन्होंने *भागवत* पर प्रवचन किया, तब लोग उन्हें पहचान पाये। उन्होंने कभी जादूगर जैसी जादूगरी दिखाने का प्रयास नहीं किया। बाहर से वे जड़, गूँगे, पागल व्यक्ति जैसे प्रतीत हो रहे थे, लेकिन वास्तव में वे महान दिव्य रूप से उच्चस्थ पुरुष थे।

कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह ।

संवादः समभूतात यत्रैषा सात्वती श्रुतिः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; वा—भी; पाण्डवेयस्य—पाण्डु के वंशज (परीक्षित) के; राजर्षेः—राजर्षि; मुनिना—मुनिके;
सह—साथ; संवादः—संवाद, वार्ता; समभूत्—हुआ; तात—हे प्रिय; यत्र—जहाँ; एषा—इस तरह; सात्वती—दिव्य;
श्रुतिः—वेदों का सार।

राजा परीक्षित की इस महामुनि से कैसे भेंट हुई जिसके फलस्वरूप वेदों के इस महान्

दिव्य सार (भागवत) का वाचन सम्भव हो सका ?

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत को यहाँ पर वेदों का सार कहा गया है। यह काल्पनिक कहानी नहीं है जैसाकि गैर जिम्मेदार लोग प्रायः कहते रहते हैं। इसे शुक-संहिता अर्थात् परम मुक्त मुनि, शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहा गया वैदिक स्तोत्र भी कहते हैं।

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम् ।

अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वस्तदाश्रमम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वे (शुकदेव गोस्वामी) ; गो-दोहन-मात्रम्—केवल गाय दुहते समय तक; हि—निश्चय ही; गृहेषु—घर में; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थों के; अवेक्षते—प्रतीक्षा करते हैं; महा-भागः—परम भाग्यशाली; तीर्थी—तीर्थ यात्रा; कुर्वन्—करते हुए; तत् आश्रमम्—उस घर को।

वे (शुकदेव गोस्वामी) किसी गृहस्थ के द्वार पर उतनी ही देर रुकते, जितने समय में गाय दुही जा सकती है। वे उस घर को पवित्र करने के लिए ही ऐसा करते थे।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से मिले और उन्होंने श्रीमद्भागवत के मूल पाठ की व्याख्या कह सुनाई। वे किसी भी गृहस्थ के दरवाजे पर आधा घंटा से अधिक (जितने समय में गाय दुह ली जाती है) नहीं रुकते थे और भाग्यशाली गृहस्थ से भिक्षा प्राप्त करते थे। वे अपनी शुभ उपस्थिति से उस घर को पवित्र करने के लिए ऐसा करते थे। अतएव शुकदेव गोस्वामी ऐसे आदर्श उपदेशक हैं, जो दिव्य पद पर स्थित हैं। जो लोग संन्यास आश्रम में हैं और भगवान् के सन्देश का उपदेश देने के लिए प्रतिबद्ध हैं, उनके कार्यों से उन्हें यह सीखना चाहिए कि दिव्य ज्ञान प्रदान करने के अतिरिक्त गृहस्थों से उनका कोई सरोकार नहीं है। गृहस्थ से भिक्षा माँगने का उद्देश्य उसके घर को पवित्र करना होना चाहिए। जिस मनुष्य ने संन्यास ग्रहण कर लिया है उन को चाहिए कि वह गृहस्थ की सांसारिक सम्पन्नता से आकर्षित होकर सांसारिक मनुष्यों का

गुलाम न बन जाय। जो मनुष्य संन्यास आश्रम ग्रहण कर चुकता है इस के लिए ऐसा करना विष-पान तथा आत्महत्या से भी अधिक घातक है।

अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम् ।

तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अभिमन्यु-सुतम्—अभिमन्यु के पुत्र को; सूत—हे सूत; प्राहुः—कहा जाता है; भागवत-उत्तमम्—प्रथम श्रेणी का भगवद् भक्त; तस्य—उसका; जन्म—जन्म; महा-आश्चर्यम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; कर्माणि—कर्म; च—तथा; गृणीहि—कृपया कहें; नः—हमसे।

कहा जाता है कि महाराज परीक्षित उच्च कोटि के भगवद्भक्त थे और उनके जन्म तथा कर्म अत्यन्त आश्चर्यजनक थे। कृपया उनके विषय में हमें बताएँ।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित का जन्म आश्चर्यजनक है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने उनकी रक्षा उनकी माता के गर्भ में की थी। उनके कार्यकलाप भी आश्चर्यजनक हैं, क्योंकि उन्होंने गाय का वध करने के लिए उद्यत कलि को प्रताड़ित किया। गाय का वध करने का अर्थ है, मानव सभ्यता का विनाश। वे पाप के उत्कट प्रतिनिधि से गाय की रक्षा करना चाहते थे। उनकी मृत्यु भी आश्चर्यजनक है, क्योंकि उन्हें मृत्यु की पूर्व-सूचना प्राप्त हो चुकी थी, जो किसी मर्त्य प्राणी के लिए आश्चर्यजनक है। इस तरह उन्होंने गंगा के तट पर आसीन होकर और भगवान् की दिव्य लीलाओं को सुनते हुए प्रयाण करने की तैयारी कर ली थी। जब तक वे *भागवत* का श्रवण करते रहे, उन्होंने न तो भोजन किया, न जल ग्रहण किया, न ही वे एक क्षण सोये। अतः उनकी सारी बातें आश्चर्यजनक हैं और उनके कार्यकलाप ध्यान से सुनने योग्य हैं। यहाँ पर उनके विषय में विस्तार से सुनने की इच्छा की गई है।

स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः ।

प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट्श्रियम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सः—वे; सम्राट्—महाराजा; कस्य—किस; वा—अथवा; हेतोः—कारण से; पाण्डूनाम्—पाण्डु के पुत्रों का; मान-वर्धनः—कुल को सम्पन्न करने वाला; प्राय-उपविष्टः—बैठे तथा उपवास करते; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; अनादृत्य—उपेक्षा करके; अधिराट्—प्राप्त किया राज्य; श्रियम्—ऐश्वर्य।

वे एक महान् सम्राट थे और उनके पास उपार्जित राज्य के सारे ऐश्वर्य थे। वे इतने वरेण्य थे कि उनसे पाण्डु वंश की प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। तो फिर वे सब कुछ त्याग कर गंगा नदी के तट पर बैठकर क्यों आमरण उपवास करने लगे ?

तात्पर्य : महाराज परीक्षित समस्त समुद्रों एवं महासागरों समेत पूरे संसार के चक्रवर्ती सम्राट थे। उन्हें इस राज्य को प्राप्त करने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ा था। उन्हें वह अपने पितामह महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों से उत्तराधिकार में मिला था। इसके साथ ही साथ, वे सुचारु रूप से शासन चला रहे थे, जो उनके पूर्वजों की प्रतिष्ठा के ही अनुरूप था। फलस्वरूप, उनके ऐश्वर्य तथा प्रशासन में कुछ भी अवाँछित नहीं था। तो फिर वे क्यों सारा राजपाट त्याग कर, गंगा के तट पर आमरण उपवास करने लगे ? यह आश्चर्यजनक है, अतएव सभी इसका कारण जानने के लिए उत्सुक थे।

नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः

शिवाय हानीय धनानि शत्रवः ।

कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां

युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नमन्ति—झुकते हैं; यत्-पाद—जिनके पाँव के; निकेतम्—नीचे; आत्मनः—अपने; शिवाय—कल्याण के लिए; हानीय—लाकर; धनानि—सम्पत्ति; शत्रवः—शत्रुगण; कथम्—किस कारण से; सः—वह; वीरः—वीर; श्रियम्—ऐश्वर्य; अङ्ग—हे; दुस्त्यजाम्—जिसका छोड़ पाना दुष्कर है उसे; युवा—युवावस्था में; ऐषत—इच्छा की; उत्स्रष्टुम्—त्याग देने के लिए; अहो—अरे; सह—साथ; असुभिः—जीवन के।

वे इतने बड़े सम्राट थे कि उनके सारे शत्रु आकर अपनी भलाई के लिए उनके चरणों पर अपना शीश झुकाते थे और अपनी सारी सम्पत्ति अर्पित करते थे। वे तरुण और शक्तिशाली थे और उनके पास अलभ्य राजसी ऐश्वर्य था। तो फिर वे अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपना जीवन भी, क्यों त्यागना चाह रहे थे ?

तात्पर्य : उनके जीवन में कुछ भी अवांछनीय नहीं था। वे नवयुवक थे और शक्ति एवं ऐश्वर्य के साथ जीवन का भोग कर सकते थे, अतएव सक्रिय जीवन से विराम लेने का कोई प्रश्न नहीं उठता था। उन्हें राज्य-कर वसूलने में कोई कठिनाई नहीं थी, क्योंकि वे इतने शक्तिशाली एवं वीर थे कि उनके शत्रु भी उनके चरणों में शीश झुकाते थे और अपने ही हित के लिए अपनी सारी सम्पत्ति भेंट कर जाते थे। महाराज परीक्षित पवित्र राजा थे। उन्होंने शत्रुओं को जीत लिया था, अतएव उनका राज्य वैभव-सम्पन्न था। उसमें प्रचुर अन्न, दूध तथा धातुएँ थीं और सारे पर्वत तथा नदियाँ क्षमताओं से भरपूर थी। फलतः भौतिक दृष्टि से सब कुछ सन्तोषप्रद था। अतएव इस असमय में अपना साम्राज्य एवं जीवन त्याग करने का कोई प्रश्न नहीं उठना चाहिए था। मुनिगण इसके विषय में सुनने के लिए आतुर थे।

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये
य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं
मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शिवाय—कल्याण हेतु; लोकस्य—समस्त जीवों के; भवाय—समुन्नति के लिए; भूतये—आर्थिक विकास के लिए; ये—जो है; उत्तम-श्लोक-परायणाः—भगवान् के कार्य के प्रति अनुरक्त; जनाः—लोग; जीवन्ति—जीते हैं; न—लेकिन नहीं; आत्म-अर्थम्—स्वार्थ; असौ—वह; पर-आश्रयम्—अन्यों के लिए शरण; मुमोच—त्याग दिया; निर्विद्य—समस्त प्रकार की आसक्ति से मुक्त होकर; कुतः—किस लिए; कलेवरम्—मर्त्य शरीर को।

जो लोग भगवत्कार्य में अनुरक्त रहते हैं, वे दूसरों के कल्याण, उन्नति तथा सुख के लिए ही जीवित रहते हैं। वे किसी स्वार्थवश जीवित नहीं रहते। अतएव राजा (परीक्षित) ने समस्त सांसारिक वैभव की आसक्ति से मुक्त होते हुए भी, अपने उस मर्त्य शरीर को क्यों त्यागा जो दूसरों के लिए आश्रयतुल्य था ?

तात्पर्य : परीक्षित महाराज आदर्श राजा तथा गृहस्थ थे, क्योंकि वे भगवद्भक्त थे। भगवद्भक्त में स्वतः समस्त उत्तम गुण आ जाते हैं और महाराज इसके विशिष्ट उदाहरण थे। व्यक्तिगत रूप से, उन्हें अपने अधिकार में उपलब्ध सांसारिक ऐश्वर्य से कोई आसक्ति न थी।

लेकिन, चूँकि वे जनता की चतुर्दिक भलाई के लिए राजा बने थे, अतएव वे जनता के कल्याणकार्यों में न केवल इस जीवन में, अपितु अगले जीवन में भी सदैव व्यस्त रहना चाहते थे। वे कसाईघरों की या गोवध की अनुमति नहीं देते थे। वे ऐसे मूर्ख तथा पक्षपाती प्रशासक न थे, जो एक जीव को तो सुरक्षा प्रदान करते और दूसरे का वध होने देते। चूँकि वे भगवद्भक्त थे, अतएव वे यह अच्छी तरह जानते थे कि मनुष्यों, पशुओं, पौधों तथा समस्त जीवित प्राणियों के सुख के लिए किस प्रकार प्रशासन चलाना चाहिए। वे अपने स्वार्थ में रुचि रखने वाले पुरुष न थे। स्वार्थ या तो आत्मकेन्द्रित होता है या आत्म-विस्तारित होता है। वे इन दोनों में से एक भी न थे। उनका स्वार्थ तो परम सत्य, परमेश्वर को प्रसन्न करने में था। राजा परमेश्वर का प्रतिनिधि होता है, अतएव राजा और परमेश्वर का उद्देश्य एक जैसा होना चाहिए। परमेश्वर चाहते हैं कि सारे जीव उनके आज्ञाकारी बनें और इस तरह से सुखी हों। अतः राजा का स्वार्थ इसी में है कि वह अपनी प्रजा का भगवान् के धाम वापस जाने में उनका मार्गदर्शन करे। अतएव प्रजा के कार्यकलापों को इस प्रकार समन्वित किया जाना चाहिए कि सारे लोग अन्त में भगवद्धाम वापस जा सकें। प्रतिनिधि राजा के शासन में सारा साम्राज्य ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहता है। ऐसी दशा में मनुष्यों को पशुओं को खाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्न, दुग्ध, फल तथा तरकारियों की प्रचुरता रहती है जिससे मनुष्य तथा पशु जी भरकर खा-पी सकते हैं। यदि सारे जीव आहार तथा आश्रय पाकर सन्तुष्ट हों और नियत नियमों का पालन करें, तो जीव-जीव में परस्पर कोई उपद्रव न हो। महाराज परीक्षित योग्य राजा थे, अतएव उनके शासन में सभी लोग सुखी थे।

तत्सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन ।

मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; सर्वम्—सारा; नः—हमसे; समाचक्ष्व—स्यष्ट कहें; पृष्टः—प्रश्न पूछा; यत् इह—यहाँ पर; किञ्चन—वह सब; मन्ये—हम सोचते हैं; त्वाम्—आपको; विषये—सारे विषयों में; वाचाम्—शब्दार्थ; स्नातम्—पूर्ण रूप से ज्ञात; अन्यत्र—छोड़कर; छान्दसात्—वेदों का अंश।

हम जानते हैं कि आप वेदों के कतिपय अंश को छोड़कर अन्य समस्त विषयों के अर्थ में पटु हैं, अतएव आप उन सारे प्रश्नों की स्पष्ट व्याख्या कर सकते हैं, जिन्हें हमने आपसे अभी पूछा है।

तात्पर्य : वेदों तथा पुराणों में वही अन्तर है जो ब्राह्मणों एवं परिव्राजकों में होता है। ब्राह्मण वेदों में वर्णित कुछ सकाम यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए होते हैं, लेकिन परिव्राजकाचार्यों या विद्वान उपदेशकों का कार्य दिव्य ज्ञान को सबों तक पहुँचाना होता है। अतएव परिव्राजकाचार्य सदा वेद मन्त्रों के उच्चारण में पटु नहीं होते जिनका अभ्यास ब्राह्मणों द्वारा लययुक्त उच्चारण में नियमित रूप से किया जाता है, क्योंकि ब्राह्मण वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने के लिए होते हैं। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भ्रमणशील उपदेशकों (परिव्राजकों) की अपेक्षा ब्राह्मण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वे एकसाथ एक तथा भिन्न हैं, क्योंकि विभिन्न मार्गों के होते हुए भी उनका लक्ष्य एक है।

वैदिक मन्त्रों में एवं पुराणों तथा इतिहास में जो कुछ वर्णित है, उनमें भी कोई अन्तर नहीं है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *माध्यन्दिन-श्रुति* में उल्लेख हुआ है कि सारे वेद अर्थात् साम, अथर्व, ऋग, यजुर्, पुराण, इतिहास, उपनिषद् आदि परम पुरुष के श्वास से उद्भूत हैं। अन्तर इतना ही है कि सारे वैदिक मन्त्र प्रणव ॐकार से प्रारम्भ होते हैं और इन मन्त्रों का सस्वर पाठ करने के लिए कुछ अभ्यास करना पड़ता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि *श्रीमद्भागवत* वैदिक मन्त्रों की अपेक्षा कम महत्त्व का है। इसके विपरीत, यह समस्त वेदों का पक्व फल है, जैसाकि पहले कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त, परम मुक्त पुरुष श्रील शुकदेव गोस्वामी स्वरूपसिद्ध होते हुए भी, *भागवत* के अध्ययन में लीन रहते हैं। श्रील सूत गोस्वामी उन्हीं के चरण-चिह्नों का अनुगमन कर रहे हैं, अतएव उनका स्थान रंचमात्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, भले ही वे वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ में उतने पटु न हों, जो वास्तविक अनुभूति की अपेक्षा अभ्यास पर अधिक निर्भर करता है। तोता-रटन्त की अपेक्षा अनुभूति अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सूत उवाच

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ।

जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; द्वापरे—द्वापर युग में; समनुप्राप्ते—आविर्भाव होने पर; तृतीये—तृतीय; युग—युग; पर्यये—के स्थान पर; जातः—प्रकट हुआ; पराशरात्—पराशर से; योगी—महान ऋषि; वासव्याम्—वसु की पुत्री के गर्भ में; कलया—पूर्ण अंश में; हरेः—भगवान् के ।

सूत गोस्वामी ने कहा : जिस समय द्वापर युग का त्रेता युग से अतिव्यापन हो रहा था, तो वसु की पुत्री सत्यवती के गर्भ से पराशर द्वारा महान ऋषि (व्यासदेव) ने जन्म लिया ।

तात्पर्य : सत्य, द्वापर, त्रेता तथा कलि चारों युगों अर्थात् का एक कालक्रम होता है । लेकिन, कभी-कभी इनमें अतिव्यापन हो जाता है । वैवस्वत मनु के राज्य काल में चतुर्युगों के अट्टाईसवें चक्र का अतिव्यापन हुआ था और तृतीय युग द्वितीय युग के पहले ही पड़ गया था । ऐसे युग में भगवान् श्रीकृष्ण भी अवतरित होते हैं और इसीलिए कुछ विशेष परिवर्तन हुआ था । महर्षि की माता सत्यवती, वसु (मछुवारे) की पुत्री थी और उनके पिता महामुनि पराशर थे । व्यासदेव के जन्म का यही इतिहास है । प्रत्येक युग तीन कालों में विभाजित होता है और हर काल *संध्या* कहलाता है । व्यासदेव उस युग की तृतीय *संध्या* में प्रकट हुए थे ।

स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः ।

विविक्त एक आसीन उदिते रविमण्डले ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; कदाचित्—एक बार; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के तट पर; उपस्पृश्य—प्रातःकालीन आचमन से निवृत्त होकर; जलम्—जल से; शुचिः—पवित्र होकर; विविक्ते—एकाग्रता; एकः—अकेले; आसीनः—इस प्रकार बैठे हुए; उदिते—उदय होने वाले; रवि-मण्डले—सूर्य के गोले का ।

एक बार सूर्योदय होते ही उन्होंने (व्यासदेव ने) सरस्वती के जल से प्रातःकालीन आचमन किया और मन एकाग्र करने के लिए वे एकान्त में बैठ गये ।

तात्पर्य : सरस्वती नदी हिमालय पर्वत के बदरिकाश्रम क्षेत्र में बहती है। अतएव यहाँ पर जिस स्थान को इंगित किया गया है, वह बदरिकाश्रम में 'शम्याप्रास' है, जहाँ श्री व्यासदेव रह रहे हैं।

परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा ।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पर-अवर—भूत तथा भविष्य का; ज्ञः—जानने वाला; सः—वह; ऋषिः—व्यासदेव; कालेन—समय पाकर; अव्यक्त—अप्रकट; रंहसा—महान शक्ति से; युग-धर्म—युग के अनुरूप कार्य; व्यतिकरम्—विसंगतियाँ, दोष; प्राप्तम्—प्राप्त होने पर; भुवि—पृथ्वी पर; युगे युगे—विभिन्न युगों में।

महर्षि व्यासदेव ने युग के कर्तव्यों में विरोधाभास देखा। कालक्रम में पृथ्वी पर अदृश्य शक्तियों के कारण विभिन्न युगों में ऐसा होता रहता है।

तात्पर्य : व्यासदेव-जैसे ऋषि मुक्त आत्मा होते हैं, अतएव वे भूत तथा भविष्य को स्पष्ट देख सकते हैं। अतएव वे कलियुग में आने वालो की विसंगतियों को देख सके और तदनुसार उन्होंने जनसामान्य के लिए ऐसा प्रबन्ध किया, जिससे वे इस अन्धकारमय युग में प्रगतिशील जीवन का अनुगमन कर सकें। इस कलियुग के सामान्य लोग नाशवान पदार्थ के प्रति अधिक रुचि दिखाते हैं। अज्ञानता के कारण वे जीवन-निधि का मूल्य नहीं समझ पाते और आध्यात्मिक ज्ञान से आलोकित नहीं हो सकते।

भौतिकानां च भावानां शक्तिहासं च तत्कृतम् ।
अश्रद्धानान्निःसत्त्वान्दुर्मेधान् हसितायुषः ॥ १७ ॥
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा ।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद्ध्यौ हितममोघदृक् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भौतिकानाम् च—पदार्थ से निर्मित प्रत्येक वस्तु का भी; भावानाम्—कर्म; शक्ति-हासम् च—तथा प्राकृतिक शक्ति का क्षय; तत्-कृतम्—उसके द्वारा किया गया; अश्रद्धानान्—श्रद्धाविहीन का; निःसत्त्वान्—सतोगुण के अभाव के कारण अधीर; दुर्मेधान्—दुर्बुद्धि वाला; हसित—घटा हुआ; आयुषः—जीवन अवधि का; दुर्भगान् च—तथा अभागे; जनान्—जन सामान्य को; वीक्ष्य—देखकर; मुनिः—मुनि; दिव्येन—दिव्य; चक्षुषा—दृष्टि से; सर्व—समस्त; वर्णा-

आश्रमाणाम्—जीवन के समस्त स्तरों तथा आश्रमों का; यत्—जो; दध्यौ—विचार किया; हितम्—कल्याण; अमोघ-
दृक्—पूर्ण ज्ञान से युक्त।

परम ज्ञानी ऋषि, अपनी दिव्य दृष्टि से, युग के प्रभाव से प्रत्येक भौतिक वस्तु की अवनति को देख सकते थे। वे यह भी देख सकते थे कि श्रद्धाविहीन व्यक्तियों की आयु क्षीण होगी और वे सच्चगुण के अभाव के कारण अधीर रहेंगे। इस प्रकार उन्होंने समस्त वर्णों तथा आश्रमों के लोगों के कल्याण पर विचार किया।

तात्पर्य : काल की अप्रकट शक्तियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि वे सारे पदार्थ को समय आने पर विस्मृति के गर्भ में डाल देती हैं। चतुर्युग चक्र के अन्तिम युग कलियुग में समय के प्रभाव से सारी भौतिक वस्तुओं की शक्ति का क्षय हो जाता है। इस युग में जनसामान्य की आयु काफी घट जाती है और उसी प्रकार से स्मरण शक्ति भी। पदार्थ की क्रिया की भी उतनी प्रेरणा नहीं रह पाती। धरती भी बीते युगों की भाँति उसी परिमाण में अन्न उत्पन्न नहीं कर पाती। गाएँ भी पूर्व युगों की भाँति दूध नहीं देतीं। शाकों तथा फलों का भी उत्पादन पहले से कम हो जाता है। इस प्रकार सारे जीव, चाहे मनुष्य हों या पशु, प्रचुर मात्रा में पौष्टिक भोजन नहीं पाते। जीवन की अनेकानेक आवश्यकताओं की चाहत के कारण स्वाभाविक रूप से आयु घट जाती है, स्मरण शक्ति कम हो जाती है, बुद्धि अल्प हो जाती है और पारस्परिक व्यवहार में दिखावा आ जाता है।

महर्षि व्यासदेव अपनी दिव्य दृष्टि से इसे देख सके। जिस प्रकार कोई ज्योतिषी मनुष्य के भाग्य को देख सकता है या ज्योतिर्विद चन्द्र तथा सूर्य ग्रहणों की भविष्यवाणी कर सकता है, उसी प्रकार शास्त्रों के भीतर झाँक सकने वाले मुक्तात्मा सारी मानवता का भविष्य पहले से बता सकते हैं। वे अपनी आध्यात्मिक पैनी दृष्टि से यह सब देख सकते हैं।

इस प्रकार से ऐसे सारे अध्यात्मवादी, जो स्वभाविक रूप से भगवद्भक्त होते हैं, जनसामान्य का कल्याण करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। जनता के वास्तविक मित्र वे हैं, तथाकथित जन-नेता नहीं, जो यह भी नहीं जानते कि अगले पाँच मिनटों में क्या होने वाला है। इस युग में जनता तथा उनके तथाकथित नेता सभी अभागे व्यक्ति हैं, जिनकी अध्यात्म ज्ञान में कोई श्रद्धा नहीं होती और वे कलियुग द्वारा प्रभावित रहते हैं। वे नाना रोगों से व्याकुल होते रहते हैं। उदाहरणार्थ,

आधुनिक युग में क्षय के रोगी हैं और क्षय रोग के अस्पताल भी अनेक हैं, लेकिन पूर्व काल में ऐसा नहीं था, क्योंकि समय इतना प्रतिकूल नहीं था। इस युग के अभागे लोग उन योगियों का स्वागत करते हुए कतराते हैं, जो श्रील व्यासदेव के प्रतिनिधि तथा निःस्वार्थ कार्यकर्ता हैं, जो कुछ न कुछ योजना बनाने में लगे रहते हैं जिससे सभी वर्णों तथा आश्रमों के लोगों का लाभ हो सके। सबसे बड़े मानवतावादी तो वे योगी हैं जो व्यास, नारद, मध्व, चैतन्य, रूप, सरस्वती आदि के संदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे सब एक ही हैं। भले ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न हों, लेकिन उनका उद्देश्य एक ही है कि पतितात्माओं को भगवद्धाम वापस भेज कर उनका उद्धार करना।

चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ।

व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चातुः—चार; होत्रम्—यज्ञ की अग्नियाँ; कर्म शुद्धम्—कर्म की शुद्धि; प्रजानाम्—प्रजा का; वीक्ष्य—देखकर; वैदिकम्—वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार; व्यदधात्—बनाया; यज्ञ—यज्ञ; सन्तत्यै—विस्तार के लिए; वेदम् एकम्—केवल एक वेद को; चतुः-विधम्—चार विभागों में।

उन्होंने देखा कि वेदों में वर्णित यज्ञ वे साधन हैं, जिनसे लोगों की वृत्तियों को शुद्ध बनाया जा सकता है। अतः इस विधि को सरल बनाने के लिए ही उन्होंने एक ही वेद के चार भाग कर दिये, जिससे वे लोगों के बीच फैल सकें।

तात्पर्य : पहले यजुर्वेद नामक एक ही वेद था और उसी में यज्ञ के चार विभागों का विशेष उल्लेख था। लेकिन उन्हें अधिक सरल बनाने के उद्देश्य से वेद को यज्ञ के चार विभागों में बाँट दिया गया, जिससे चारों आश्रमों का वृत्तिपरक धर्म शुद्ध हो सके। ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम तथा अथर्व, इन चार वेदों के अलावा पुराण, महाभारत, संहिताएँ आदि पाँचवा वेद कहलाती हैं। श्री वेदव्यास तथा उनके अनेक शिष्य इतिहास प्रवृत्त व्यक्ति थे और वे सब इस कलि की पतितात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु थे। फलस्वरूप, सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यों से पुराण तथा महाभारत तैयार किये गये, जिनमें चारों वेदों की शिक्षा दी गई है। पुराणों तथा महाभारत को वेदों का अभिन्न अंग मानने में कोई शंका नहीं होनी चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् (७.१.४) में पुराणों तथा महाभारत को, जिन्हें

सामान्य रूप से इतिहास माना जाता है, पंचम वेद कहा गया है। श्रील जीव गोस्वामी के मतानुसार शास्त्रों की अपनी-अपनी महत्ता आँकने की यही विधि है।

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ऋग्-यजुः-साम-अथर्व-आख्याः—चार वेदों के नाम; वेदाः—वेद; चत्वारः—चार; उद्धृताः—पृथक्-पृथक् अंगों में बँटा; इतिहास—ऐतिहासिक प्रलेख (महाभारत); पुराणम् च—तथा सारे पुराण; पञ्चमः—पाँचवा; वेदः—ज्ञान का मूल स्रोत; उच्यते—कहा जाता है।

मूल ज्ञान के स्रोतों (वेदों) के चार पृथक् विभाग किये गये। लेकिन पुराणों में वर्णित ऐतिहासिक तथ्य तथा प्रामाणिक कथाएँ पंचम वेद कहलाती हैं।

तत्रर्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ऋग्-वेद-धरः—ऋग्वेद के आचार्य; पैलः—पैल नामक ऋषि; साम-गः—सामवेद का; जैमिनिः—जैमिनि नामक ऋषि; कविः—अत्यन्त योग्य; वैशम्पायनः—वैशम्पायन नामक ऋषि; एव—ही; एकः—अकेले; निष्णातः—पटु; यजुषाम्—यजुर्वेद के; उत—यशस्वी।

वेदों के चार खण्डों में विभाजित हो जाने के बाद, पैल ऋषि ऋग्वेद के आचार्य बने और जैमिनि साम वेद के। यजुर्वेद के कारण एकमात्र वैशम्पायन यशस्वी हुए।

तात्पर्य : विभिन्न वेदों को उनके बहुविध विकास के लिए विद्वान व्यक्तियों को सौंप दिया गया।

अथर्वाङ्गिरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथर्व—अथर्ववेद; अङ्गिरसाम्—अंगिरा ऋषि को; आसीत्—सौंपा गया; सुमन्तुः—सुमन्तुमुनि नाम से ज्ञात; दारुणः—अथर्ववेद में गम्भीरता से संलग्न; मुनिः—मुनि; इतिहास-पुराणानाम्—ऐतिहासिक प्रलेखों तथा पुराणों; पिता—पिता; मे—मेरा; रोमहर्षणः—ऋषि रोमहर्षण।

अत्यन्त अनुरक्त रहने वाले सुमन्तु मुनि अंगिरा को अथर्ववेद सौंपा गया और मेरे पिता रोमहर्षण को पुराण तथा इतिहास सौंपे गये।

तात्पर्य : श्रुति मंत्रों में भी कहा गया है कि अथर्ववेद के दृढ़ नियमों का कड़ाई से पालन करने वाले अंगिरा मुनि, अथर्ववेद के अनुयायियों के अग्रणी थे।

त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ।

शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एते—ये सब; ऋषयः—विद्वान्; वेदम्—विभिन्न वेदों को; स्वम् स्वम्—अपने अपने विषयों के; व्यस्यन्—प्रस्तुत किया; अनेकधा—अनेक; शिष्यैः—शिष्य; प्रशिष्यैः—शिष्यों के शिष्य; तत्-शिष्यैः—उनके भी शिष्यों द्वारा; वेदाः—उन वेदों के अनुयायी; शाखिनः—विभिन्न शाखाएँ; अभवन्—इस प्रकार बनीं।

इन सब विद्वानों ने अपनी पारी में, उन्हें सौंपे गये वेदों को अपने अनेक शिष्यों, प्रशिष्यों तथा उनके भी शिष्यों को प्रदान किया और इस प्रकार वेदों के अनुयायियों की अपनी-अपनी शाखाएँ बनीं।

तात्पर्य : ज्ञान के मूल स्रोत वेद हैं। संसारी या दिव्य ज्ञान की कोई ऐसी शाखा नहीं है, जो वेदों के मूल भाष्य से सम्बद्ध न हो। उन्हें केवल विभिन्न शाखाओं के रूप में विकसित कर लिया गया है। मूलतः वे महान, सम्माननीय एवं विद्वान् आचार्यों द्वारा बनायी गईं। दूसरे शब्दों में, वैदिक ज्ञान विभिन्न शिष्य-परम्पराओं द्वारा, भिन्न-भिन्न शाखाओं में विभाजित होकर, सारे विश्व में वितरित किया गया। अतः वेदों के परे स्वतन्त्र ज्ञान का दावा कोई नहीं कर सकता।

त एव वेदा दुर्मैधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा ।

एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एव—निश्चय ही; वेदाः—ज्ञान के ग्रंथ; दुर्मैधैः—अल्पज्ञों द्वारा; धार्यन्ते—धारण किये जाते हैं; पुरुषैः—मनुष्य द्वारा; यथा—जिस तरह; एवम्—इस प्रकार; चकार—संकलित किया; भगवान्—शक्तिशाली; व्यासः—व्यास मुनि ने; कृपण-वत्सलः—अज्ञानी जनता के प्रति दयालु।

इस प्रकार, अज्ञानी जनसमूह पर अत्यन्त कृपालु ऋषि व्यासदेव ने वेदों का संकलन किया, जिससे कम ज्ञानी पुरुष भी उनको आत्मसात् कर सकें।

तात्पर्य : वेद एक है। यहाँ पर अनेक शाखाओं में इसके विभाजन के कारणों की व्याख्या की गई है। समस्त ज्ञान का बीज वेद, ऐसा विषय नहीं है, जिसे कोई सामान्य व्यक्ति आसानी से समझ सके। ऐसा प्रतिबन्ध है कि जो सुपात्र ब्राह्मण नहीं है, उसे वेद नहीं सीखना चाहिए। इस प्रतिबन्ध की कई प्रकार से गलत व्याख्याएँ की गई हैं। मनुष्यों का एक वर्ग, ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण ही, ब्राह्मण योग्यता का दावा करता है; वह वेदों के अध्ययन को ब्राह्मण जाति का एकाधिपत्य मानता है। लोगों का दूसरा वर्ग इसे उन जाति वालों पर अन्याय बताता है, जो ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं ले पाते। लेकिन ये दोनों ही दिग्भ्रमित हैं। वेदों का विषय ऐसा है, जिसकी व्याख्या स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा के लिए की थी। अतएव विलक्षण सतोगुणी व्यक्ति ही इस विषय को समझ सकते हैं। रजोगुणी तथा तमोगुणी लोग वेद विषय को नहीं समझ पाते। वैदिक ज्ञान का चरम उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जो लोग रजो तथा तमोगुणी हैं, वे भगवान् को बहुत कम समझ पाते हैं। सत्ययुग में प्रत्येक व्यक्ति सतोगुणी होता था। धीरे-धीरे त्रेता तथा द्वापर युगों में सतोगुण का हास होता गया और जनता भ्रष्ट होती गई। आधुनिक युग में सतोगुण प्रायः शून्य है, अतएव जनता के हित के लिए परम दयालु सम्पन्न ऋषि श्रील व्यासदेव ने वेदों को अनेक प्रकार से विभक्त कर दिया, जिससे वे रजोगुण तथा तमोगुण वाले अल्पज्ञों द्वारा भी समझे जा सकें। इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्त्री—स्त्री वर्ग; शूद्र—श्रमिक वर्ग; द्विज-बन्धूनाम्—द्विजों के मित्रों का; त्रयी—तीन; न—नहीं; श्रुति-गोचरा—समझने के लिए; कर्म—कर्म में; श्रेयसि—कल्याण में; मूढानाम्—मूर्खों का; श्रेयः—परम लाभ; एवम्—इस प्रकार; भवेत्—प्राप्त किया; इह—इससे; इति—इस प्रकार सोचकर; भारतम्—महाभारत; आख्यानम्—ऐतिहासिक तथ्य; कृपया—महत् अनुकम्पावश; मुनिना—मुनि द्वारा; कृतम्—पूरा हुआ है।

महर्षि ने अनुकम्पावश हितकर समझा कि यह मनुष्यों को जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने में यह सहायक होगा। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज-बन्धुओं के लिए महाभारत नामक महान ऐतिहासिक कथा का संकलन किया।

तात्पर्य : द्विज-बन्धु वे हैं जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों या आध्यात्मिक कुलों में जन्म तो लेते हैं, किन्तु अपने पूर्वजों के तुल्य नहीं होते। ऐसे वंशज संस्कारों के अभाव में मान्य नहीं बन पाते। ऐसे संस्कार बालक के जन्म लेने के पहले से ही प्रारम्भ हो जाते हैं और बीजारोपण पहला *गर्भाधान-संस्कार* कहलाता है। जो व्यक्ति *गर्भाधान-संस्कार* अर्थात् आध्यात्मिक परिवार नियोजन की इस प्रक्रिया से नहीं गुजरता, उसे द्विज कुल में जन्मा नहीं माना जाता है। *गर्भाधान-संस्कार* के बाद अन्य कई संस्कार होते हैं, जिनमें उपनयन संस्कार एक है। यह आध्यात्मिक दीक्षा के समय सम्पन्न होता है। इस विशेष संस्कार के बाद ही कोई द्विज कहलाता है। एक जन्म *गर्भाधान-संस्कार* के समय गिना जाता है और दूसरा, आध्यात्मिक दीक्षा के समय। जो इन महत्त्वपूर्ण संस्कारों से गुजरता है, उसे प्रामाणिक द्विज कहा जा सकता है।

यदि माता तथा पिता आध्यात्मिक परिवार नियोजन अर्थात् *गर्भाधान-संस्कार* का पालन किये बिना केवल वासना-वश सन्तानें उत्पन्न करते हैं, तो ये सन्तानें *द्विज-बन्धु* कहलाती हैं। निश्चित रूप से, ये द्विज-बन्धु नियमित द्विजों के बालकों के समान बुद्धिमान नहीं होते। ऐसे द्विज-बन्धुओं की गणना शूद्रों एवं स्त्रियों के साथ की जाती है, जो स्वभाव से अल्पज्ञ होते हैं। शूद्रों तथा स्त्रियों को विवाह संस्कार के अतिरिक्त कोई अन्य संस्कार नहीं करना होता।

अल्पज्ञ श्रेणी के व्यक्ति, यथा स्त्रियाँ, शूद्र तथा उच्च वर्णों के अयोग्य पुत्र, आवश्यक योग्यताओं से विहीन होते हैं जिससे वे दिव्य वेदों के उद्देश्य को नहीं समझ पाते। ऐसे लोगों के लिए *महाभारत* लिखा गया है। *महाभारत* का उद्देश्य वेदों के उद्देश्य की पूर्ति है, अतः इस *महाभारत* में वेद का सार *भगवद्गीता* सन्निविष्ट है। अल्पज्ञ लोग दर्शन की अपेक्षा कथाओं में अधिक रुचि दिखाते हैं, अतएव वेदों के दर्शन का प्रवचन, भगवान् कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* के रूप में किया गया। व्यासदेव तथा भगवान् कृष्ण दोनों ही दिव्य पद पर हैं, अतएव उन्होंने इस

युग के पतितात्माओं के कल्याण के लिए सहयोग किया। *भगवद्गीता* समस्त वैदिक ज्ञान का सार है। यह आध्यात्मिक मूल्यों का वैसा ही प्रथम ग्रंथ है, जिस प्रकार *उपनिषदे* हैं। वेदान्त दर्शन तो अध्यात्म के स्नातकों के अध्ययन करने का विषय है। केवल स्नाकोत्तर छात्र ही आध्यात्मिक या भगवद्भक्ति में प्रवेश पा सकते हैं। यह एक महान विज्ञान है और इसके परमाचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में स्वयं भगवान् हैं। जो लोग उनके द्वारा शक्ति-प्रदत्त हैं, वे ही दिव्य भगवद्भक्ति में अन्यो को दीक्षित कर सकते हैं।

एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः ।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्दृदयं ततः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रवृत्तस्य—संलग्न रहने वाले का; सदा—सदैव; भूतानाम्—जीवों का; श्रेयसि—कल्याण में;
द्विजाः—हे द्विजो; सर्वात्मकेन अपि—सभी प्रकार से; यदा—जब; न—नहीं; अतुष्यत्—तुष्ट हो गया; हृदयम्—मन;
ततः—उस समय।

हे द्विज ब्राह्मणो, यद्यपि वे समस्त लोगों के समग्र कल्याण कार्य में लगे रहे, तो भी उनका मन भरा नहीं।

तात्पर्य : श्री व्यासदेव अपने आप से सन्तुष्ट नहीं थे, यद्यपि उन्होंने जनसामान्य के चतुर्दिक कल्याण के लिए वैदिक साहित्य तैयार किया था। ऐसी आशा थी कि वे ऐसे कार्यों से संतुष्ट होंगे, लेकिन अन्ततः वे संतुष्ट नहीं हुए।

नातिप्रसीदद्दृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं चोवाच धर्मवित् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अतिप्रसीदत्—अत्यधिक तुष्ट; हृदयः—हृदय में; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; तटे—किनारे; शुचौ—पवित्र;
वितर्कयन्—विचार करके; विविक्त-स्थः—एकान्त में स्थित; इदम् च—यह भी; उवाच—कहा; धर्म-वित्—धर्म का ज्ञाता।

इस प्रकार मन में असंतुष्ट रहते हुए ऋषि ने तुरन्त विचार करना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वे धर्म के सार के ज्ञाता और मन ही मन कहा :

तात्पर्य : ऋषि अपने मन के असन्तोष का कारण ढूँढने लगे। सिद्धि तब तक नहीं मिल पाती, जब तक कोई हृदय से संतुष्ट न हो। हृदय की तुष्टि को पदार्थ से परे ढूँढना होता है।

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ॥ २८ ॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च प्रदर्शितः ।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

धृत-व्रतेन—कठिन व्रत करते हुए; हि—निश्चय ही; मया—मेरे द्वारा; छन्दांसि—वैदिक मन्त्र; गुरवः—गुरुजन;
अग्नयः—यज्ञ की अग्नि; मानिताः—भलीभाँति पूजित; निर्व्यलीकेन—किसी छद्म से रहित; गृहीतम् च—तथा स्वीकृत;
अनुशासनम्—पारम्परिक अनुशासन; भारत—महाभारत के; व्यपदेशेन—संकलन से; हि—निश्चय ही; आम्नाय-
अर्थः—शिष्य-परम्परा की अभिव्यक्ति; च—तथा; प्रदर्शितः—ठीक प्रकार से कहा गया; दृश्यते—जो आवश्यक है, उस
से; यत्र—जहाँ; धर्म-आदिः—धर्म का मार्ग; स्त्री-शूद्र-आदिभिः अपि—यहाँ तक कि स्त्रियों, शूद्रों आदि के द्वारा;
उत—कहा गया।

मैंने कठिन व्रतों का पालन करते हुए वेदों की, गुरु की तथा यज्ञ वेदी की मिथ्याडम्बर के बिना पूजा की है। मैंने अनुशासन का भी पालन किया है और महाभारत की व्याख्या के माध्यम से शिष्य-परम्परा को अभिव्यक्ति दी है, जिससे स्त्रियाँ, शूद्र तथा अन्य (द्विजबन्धु) लोग भी धर्म के मार्ग का अवलोकन कर सकते हैं।

तात्पर्य : कठोर अनुशासनिक व्रत तथा शिष्य-परम्परा का पालन किए बिना, कोई भी वेदों के अर्थ को नहीं समझ सकता। अभिलाषी व्यक्ति को चाहिए कि वेदों, गुरुओं तथा याज्ञिक अग्नि की पूजा करे। वैदिक ज्ञान की इन समस्त बारीकियों को, क्रमबद्ध रूप में *महाभारत* में प्रस्तुत किया गया है ताकि स्त्री वर्ग, श्रमिक वर्ग तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुलों के अयोग्य व्यक्ति उन्हें समझ सकें। इस युग में मूल वेदों की अपेक्षा *महाभारत* अधिक आवश्यक है।

तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्य सत्तमः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तथापि—यद्यपि; बत—दोष; मे—मेरा; दैह्यः—शरीर में स्थित; हि—निश्चय ही; आत्मा—जीव; च—तथा; एव—भी; आत्मना—अपने से; विभुः—पर्याप्त; असम्पन्नः—विहीन; इव आभाति—प्रतीत होता है; ब्रह्म-वर्चस्य—वेदान्तियों का; सत्तमः—परम।

वेदों के लिए जितनी बातों की आवश्यकता है, यद्यपि मैं उनसे पूर्णरूप से सज्जित हूँ, तथापि मैं अपूर्णता का अनुभव कर रहा हूँ।

तात्पर्य : निस्सन्देह, श्रील व्यासदेव वैदिक उपलब्धियों से परिपूर्ण थे। पदार्थ (जड़ता) में डूबे हुए जीव की शुद्धि वेद-वर्णित कृत्यों से ही सम्भव है, लेकिन चरम उपलब्धि तो भिन्न है। इसे प्राप्त किये बिना, जीव चाहे पूर्णरूप से सज्जित क्यों न हो, दिव्य स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा लगता है कि श्रील व्यासदेव ने संकेत खो दिया था, जिसके कारण वे असन्तुष्ट थे।

किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः ।

प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—अथवा; भागवताः धर्माः—जीवों के भक्ति-कार्य; न—नहीं; प्रायेण—प्रायः; निरूपिताः—संकेत किया; प्रियाः—प्रिय; परमहंसानाम्—सिद्ध पुरुषों का; ते एव—वे भी; हि—निश्चय ही; अच्युत—अचूक; प्रियाः—आकर्षक।

हो सकता है कि मैंने भगवान् की भक्ति का विशेष रूप से कोई संकेत न किया हो, जो सिद्ध जीवों तथा अच्युत भगवान् दोनों को प्रिय है।

तात्पर्य : श्रील व्यासदेव जिस असंतोष का अनुभव कर रहे थे, वह यहाँ पर उन्हीं के शब्दों में व्यक्त हुआ है। यह असन्तोष भगवान् की भक्ति में जीव की सामान्य दशा में अनुभव किया गया था। जब तक कोई सेवा की सामान्य दशा में स्थित नहीं होता, तब तक न तो भगवान् और न ही जीव पूरी तरह संतुष्ट हो सकते हैं। उन्हें इस दोष का अनुभव तब हुआ, जब उनके गुरु नारद मुनि उनके पास आये। इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है।

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।

कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहतम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; खिलम्—अपरा; आत्मानम्—आत्मा; मन्यमानस्य—मन के भीतर सोचते हुए; खिद्यतः—पश्चात्ताप करते; कृष्णस्य—कृष्ण द्वैपायन व्यास का; नारदः अभ्यागात्—नारद का आगमन हुआ; आश्रमम्—कुटिया में; प्राक्—पहले; उदाहृतम्—कहा गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जब व्यासदेव अपने दोषों के विषय में पश्चात्ताप कर रहे थे, उसी समय सरस्वती नदी के तट पर स्थित कृष्णद्वैपायन व्यास की कुटिया में नारद जी पधारे।

तात्पर्य : व्यासदेव जिस रिक्तता का अनुभव कर रहे थे, वह उनके ज्ञान के अभाव के कारण न थी। भागवत-धर्म विशुद्ध भगवद् भक्ति है, जहाँ तक अद्वैतवादी की पहुँच नहीं होती। अद्वैतवादी की गणना परमहंसों में नहीं की जाती, जो संन्यास आश्रम में सर्वोच्च होते हैं। श्रीमद्भागवत भगवान् की दिव्य लीलाओं की कथाओं से पूर्ण है। यद्यपि व्यासदेव शक्त्यावेश दिव्य पुरुष थे, तो भी वे असन्तुष्ट थे, क्योंकि उनके किसी भी ग्रंथ में भगवान् की दिव्य लीलाओं का ठीक से वर्णन नहीं था। इसकी प्रेरणा श्रीकृष्ण ने सीधे व्यासदेव के हृदय में उत्पन्न की, अतएव उन्हें रिक्तता का अनुभव हुआ जैसाकि ऊपर कहा गया है। यहाँ यह निश्चित रूप से बताया गया है कि भगवान् की प्रेमाभक्ति के बिना सब कुछ शून्य है, लेकिन भगवान् की भक्तिमय सेवा में सकाम कर्म या शुष्क चिन्तन का अलग से प्रयास किए बिना ही सब कुछ सम्भव है।

तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः ।

पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम् अभिज्ञाय—उनके (नारद के) शुभ आगमन को देखकर; सहसा—एकाएक; प्रत्युत्थाय—उठकर; आगतम्—आये हुए; मुनिः—व्यासदेव ने; पूजयाम् आस—पूजा; विधि-वत्—विधि (ब्रह्मा) को प्रदान किये जाने वाले सम्मान के साथ; नारदम्—नारद को; सुर-पूजितम्—देवताओं द्वारा पूजित।

श्री नारद के शुभागमन पर श्री व्यासदेव सम्मानपूर्वक उठकर खड़े हो गये और उन्होंने सृष्टा ब्रह्मा जी के समान उनकी पूजा की।

तात्पर्य : विधि का अर्थ है प्रथम सृजित जीव ब्रह्मा। वे वेदों के मूल जिज्ञासु तथा आचार्य भी हैं। उन्होंने सर्वप्रथम श्रीकृष्ण से वेदों को सीखा और सबसे पहले नारद जी को पढ़ाया।

अतएव आध्यात्मिक शिष्य-परम्परा में नारद जी द्वितीय आचार्य हैं। वे ब्रह्मा के प्रतिनिधि हैं, अतएव उनका सम्मान समस्त विधियों (नियमों) के पिता ब्रह्मा के समान किया जाता है। इसी प्रकार शृंखला के अन्य क्रमागत शिष्यों का भी सम्मान आदि गुरु के प्रतिनिधियों के समान ही किया जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'श्री नारद का प्राकट्य' नामक चतुर्थ अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।